REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
VOLUME - 14 | ISSUE - 5 | FEBRUARY - 2025

शुंगकालीन सामाजिक संरचना एवं धार्मिक प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक विश्लेषण

Manish[1] and Dr. Neelam Rani[2]
[1]Ph.D Research Scholar, Department of History, BMU, Asthal Bohar, Rohtak.
[2] Associate Professor, Department of History, BMU, Asthal Bohar, Rohtak.

सारांश

शुंगकाल (लगभग 185 ई.पू. दृ 73 ई.पू.) एक ऐसा संक्रमणकाल था, जिसमें मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात भारतीय उपमहाद्वीप में नई सामाजिक एवं धार्मिक धाराएँ आकार लेने लगी थीं। यह काल राजनीतिक पुनर्गठन के साथ–साथ सांस्कृतिक एवं वैचारिक पुनरुत्थान का भी साक्षी रहा। शुंग वंश की स्थापना न केवल एक राजनैतिक परिवर्तन थी, बल्कि यह ब्राह्मणवादी परंपराओं की पुनर्स्थापना और वैदिक मूल्यों के पुनरुत्थान की दिशा में भी एक निर्णायक मोड़ सिद्ध हुई। इस युग की सामाजिक संरचना में वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रभाव पुनः सुदृढ़ हुआ, जिसमें ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। जातिगत गतिशीलता सीमित हो गई और समाज में पुनः पारंपरिक अधिकार एवं कर्तव्यों पर बल दिया गया। धार्मिक दृष्टि से शुंगकाल में यज्ञीय परंपराओं, वेदों एवं पुराणों की प्रतिष्ठा पुनर्स्थापित हुई, जबकि बौद्ध धर्म को राज्याश्रय से वंचित होकर जनसामान्य की आस्था पर निर्भर रहना पड़ा। तथापि, इस काल में धार्मिक सहिष्णुता और विविधता का भी विकास हुआ, जिसमें ब्राह्मण धर्म, बौद्ध मत और क्षेत्रीय देवता समानांतर रूप से विद्यमान रहे।

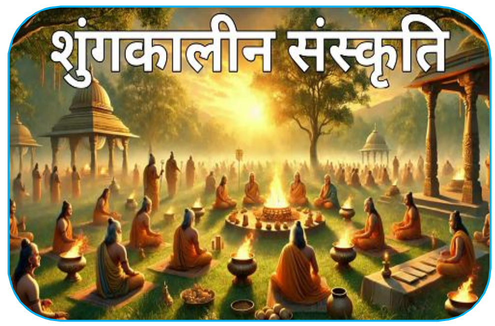

बीज शब्द : वर्ण व्यवस्था, जाति, सामाजिक ओर आर्थिक परिवर्तन, अवतारवाद, नारी, शूद्रयज्ञीय परंपरा, वंश–प्रधानता ।

परिचय

शुंग काल में भारतीय समाज की संरचना को स्थायित्व देने तथा लोक कल्याण हेतु पूर्वकालीन चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को जाति–आधारित संरचना में परिवर्तित कर दिया गया। हालांकि इस युग में भी वर्ण व्यवस्था का आधार गुण और कर्म को माना जाता था, फिर भी इन गुणों और कर्मों की व्याख्या उच्च वर्णों तक सीमित होकर रह गई थी।[1] महाभाष्य[2] के साक्ष्य बताते हैं कि इस समय वंश–प्रधानता के चलते जाति का आधार जन्म को मान लिया गया था, जिससे सामाजिक गतिशीलता, अर्थात् उन्नति या अवनति की संभावना, लगभग समाप्त हो गई थी। मनु[3] द्वारा भी जाति शब्द का प्रयोग वर्णों के लिए किया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि इस समय तक 'जाति' शब्द का अर्थ और प्रभाव व्यापक हो चुका था। जातियों ने धीरे–धीरे गोत्र और चरण जैसे

---

[1] गीता, 4.13.
चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

[2] महाभाष्य, 40.26.

[3] मनुस्मृति, 5.157

संस्थागत पहलुओं को भी समाहित कर लिया था। गोत्र और चरण उन व्यक्तियों की पहचान में सहायक होते थे जो विभिन्न कुलों में जन्मे थे या भिन्न विद्या संस्थाओं में शिक्षित हुए थे। इससे दो महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं पहला, प्रत्येक जाति किसी न किसी वर्ण से संबद्ध रहती थी, और दूसरा, केवल चार वर्णों में विशाल जनसमूह को बांटने के कारण प्रत्येक व्यक्ति के विशिष्ट गुणों या कर्मों की पहचान कर पाना कठिन हो गया था। डा. अयंगर[4] का मत था कि ब्राह्मण मुख्यतः धर्म, क्षत्रिय और वैश्य अर्थ तथा काम, और शूद्र केवल काम की पूर्ति के लिए उत्तरदायी माने जाते थे। इस दृष्टिकोण में प्रत्येक वर्ण अपने विशिष्ट कर्तव्यों एवं उपलब्धियों के माध्यम से समाज को समृद्ध करता था और संपूर्ण लोक कल्याण सुनिश्चित होता था। महाभारत[5] में यह वर्णित है कि जो भी व्यक्ति अपने वर्ण के धर्म का पालन करता है, वह मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी होता है। डॉ. चतुर्वेदी[6] ने वर्ण व्यवस्था को समाज की प्रगति का आधार मानते हुए कहा है कि इस व्यवस्था का एक नैतिक लाभ यह था कि संकट या विपत्ति के समय भी व्यापार और शिल्प पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था; शासन युद्ध में व्यस्त रह सकता था, जबकि अन्य जातियाँ अपने–अपने कर्तव्यों का पालन करती रहती थीं।

शुंगकाल का एक महत्वपूर्ण सामाजिक योगदान यह था कि उसने व्यक्तिगत जीवन को मर्यादित करने के उद्देश्य से आश्रम–व्यवस्था को स्पष्ट और व्यवस्थित रूप प्रदान किया। जिस प्रकार समाज को चार वर्णों की बजाय कई जातियों में संगठित किया गया, उसी प्रकार जीवन को भी चार चरणों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में विभाजित कर दिया गया। यह व्यवस्था न केवल चातुर्वर्ण्य की सिद्धि का साधन थी, बल्कि लोकमंगल का मार्ग भी प्रशस्त करती थी।[7] डॉ. बोकिल[8] के अनुसार, 'आश्रम' शब्द का प्रारंभिक अर्थ भ्रमण का स्थान था, जो समय के साथ श्रम और अनुशासित जीवन काल का प्रतीक बन गया। डॉ. उपाध्याय ने भी इस तथ्य को स्वीकारते हुए कहा है कि प्रत्येक आश्रम में श्रम की विशेष महत्ता थी और वही इसका प्रमुख आधार रहा। डॉ. प्रभु[9] के मतानुसार, आश्रम–व्यवस्था सांसारिक जीवन को स्वीकार करते हुए अन्ततः परम लक्ष्य की ओर प्रेरित करती थी। इस प्रकार शुंग युग में आश्रम–व्यवस्था को एक स्थिर और अनुशासित स्वरूप प्रदान किया गया, जिसे अनेक धार्मिक नियमों और मर्यादाओं से संयोजित कर दिया गया। समाज में स्त्री को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था, परंतु उस पर कई प्रकार की सामाजिक एवं धार्मिक सीमाएँ भी लागू की गई थीं। इस काल तक कन्याओं का उपनयन संस्कार प्रचलन से बाहर हो चुका था। उनके लिए विवाह ही प्रमुख संस्कार माना जाने लगा था। विवाह के पश्चात पति को ही स्त्री का आचार्य समझा जाता था। पति की सेवा को उसका आश्रम–धर्म माना गया और गृहकार्य को ही उसके धार्मिक कर्तव्यों के रूप में स्वीकार कर लिया गया। महाभारत[10] में स्त्री को 'गृहदीप्ति' कहा गया है, अर्थात वह जो घर को आलोकित करती है। उसकी जीवन–सिद्धि को केवल रति और संतानोत्पत्ति तक सीमित समझा गया। फिर भी, उन्हें कुछ सामाजिक स्वतंत्रताएँ भी प्राप्त थीं कृ वे उत्सवों, सभाओं, यहाँ तक कि युद्ध क्षेत्रों और शिविरों में भी पुरुषों के साथ जा सकती थीं। हालांकि सभा–समितियों में उनके लिए पृथक स्थान निर्धारित होते थे। यद्यपि इस समय स्त्रियों पर अनेक पाबंदियाँ थीं, फिर भी उन्हें समाज–सेवा के कार्यों में पूरी तरह सक्षम माना गया था। डॉ. भुवालकर[11] के अनुसार, समाज–कल्याण के केंद्र किसी पृथक संस्थानों में नहीं, बल्कि स्वयं समाज में ही समाहित थे। स्त्री को घर की सीमाओं में रहते हुए भी समाज सेवा में योगदान करने योग्य समझा गया। गृहस्थाश्रम को ही एक सामाजिक सेवा केंद्र के रूप में देखा गया, जहाँ प्रत्येक गृहिणी से अपेक्षा की जाती थी कि वह भिक्षा, अतिथि–सत्कार, बलि के माध्यम से जीवों के प्रति दया, और अन्य आश्रमवासियों का पालन–पोषण जैसे कर्तव्यों

[4] आयंगर के०. वी०. रंगस्वामी, इण्डियन इनहेरिटेन्त, अंक 3, पृ० 26.

[5] महाभारत, उद्योग. 40.26.

[6] चतुर्वेदी गिरिधर शर्मा, वैदिक विज्ञान एवं भारतीय संस्कृति, पृ०. 207–8.

[7] पी.टी. राजू, दि कन्सेप्ट आफ मैन, पृ० 212.

[8] बोकिल, बी.पी., दि हिस्ट्री आफ एजुकेशन इन इण्डिया, पृ० 63.

[9] प्रभु, पंढरिनाथ, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ०79

[10] महाभारत. आदि०. 134

[11] भवालंकर वनमाला, महाभारत मैं नारी, पृ० 100–108.

का पालन करे। शुंगकालीन समाज–व्यवस्था में सबसे महत्वपूर्ण योगदान विधवा विवाह पर रोक लगाना माना जाता है। प्राचीन काल में विधवाओं का पुनर्विवाह प्रचलित था, किंतु यह माना जाने लगा कि इससे कुल की शुद्धता पर आंच आती है। इस युग में कुल की प्रतिष्ठा को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया। यदि कुल नष्ट हो जाता, तो उसके साथ ही सनातन धर्म के नष्ट होने की आशंका उत्पन्न होती थी। धर्म के नाश से कुल में अधर्म और पाप का प्रसार होता और उसका प्रभाव कुल की स्त्रियों की मर्यादा पर भी पड़ सकता था। इसलिए जाति और धर्म की रक्षा के लिए विधवाओं के पुनर्विवाह पर रोक आवश्यक समझी गई। मनु[12] ने निर्देश दिया कि पति की मृत्यु के बाद विधवा को पुष्प, कंद–मूल और फल का अल्पाहार करते हुए अपने शरीर को क्षीण करना चाहिए और किसी अन्य पुरुष का नाम भी नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार शुंग काल में समाज को सुव्यवस्थित करने और स्त्री–पुरुष संबंधों को मर्यादा में रखने का प्रयास किया गया।

धार्मिक प्रवृत्तियाँ

शुंगकाल में जिस प्रकार समाज को अनेक सामाजिक नियमों के माध्यम से संगठित किया गया, उसी तरह धार्मिक क्षेत्र में भी कई नई प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। इस काल की एक विशेषता यह थी कि व्यक्ति के हर कर्म को धार्मिक नियमों से बाँधकर उसे पारलौकिक सुख की प्रेरणा दी जाती थी। इससे पूर्व के समय में अहिंसा के प्रचार को वैदिक धर्म के विरोध के रूप में प्रस्तुत किया गया था। मौर्य युग में वैदिक परम्पराओं के विरोधी सम्प्रदायों ने बड़ी संख्या में ब्राह्मण अनुयायियों को अपने पंथ में सम्मिलित कर लिया था। ऐसे में शुंगकालीन ब्राह्मणों के समक्ष यह चुनौती थी कि वे वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा को बनाए रखते हुए हिंसा के समर्थन को किस प्रकार न्यायसंगत ठहराएँ। इसी उद्देश्य से उन्होंने भागवत धर्म को अपनाया, जिसमें अहिंसा को स्वीकार करते हुए धार्मिक दृष्टिकोण में उदारता लाई गई। ब्राह्मणों के इस उदार दृष्टिकोण ने भागवत परंपरा को व्यापक स्वीकृति दिलाई, यहाँ तक कि विदेशी लोग भी इसे अपनाने लगे। इस पंथ में बड़ी संख्या में विदेशी अनुयायियों के सम्मिलित होने से उसके सामाजिक स्वरूप पर क्या प्रभाव पड़ा, यह अध्ययन का विषय है। एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू यह है कि महात्मा बुद्ध के काल से लेकर शुंगकाल के पूर्व तक बौद्ध धर्म की सामाजिक मान्यताओं ने भारतीय समाज पर स्थायी प्रभाव डाला था। सम्राट अशोक की बौद्ध प्रेरित नीति, जिसने धार्मिक और सामाजिक सहिष्णुता को बढ़ावा दिया था, वह भी ब्राह्मणिक समाज को समन्वय की दिशा में प्रेरित करने में सफल रही। परिणामस्वरूप, शुंग काल में वैदिक धर्म केवल कर्मकाण्डों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि वह एक समावेशी और समन्वयात्मक विचारधारा की ओर अग्रसर हुआ। इसीलिए शुंगकाल को धार्मिक पुनर्जागरण का युग कहा जाता है। शुंग काल की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि वैदिक देवताओं को मूर्तियों के रूप में प्रतिष्ठित किया जाने लगा। इस समय भागवत धर्म दो प्रमुख शाखाओं में विभाजित हो गया कृ वैष्णव और शैव सम्प्रदाय। वैष्णव परंपरा में विष्णु को सर्वोच्च देवता के रूप में माना गया। महाभारत से यह जानकारी मिलती है कि विष्णु को उनके विभिन्न गुणों और कार्यों के आधार पर अलग–अलग नामों से जाना गया जैसे कि 'वैकुंठ' उनके दिव्य धाम का अधिपति होने के कारण, 'जिष्णु' विजय का प्रतीक होने से, 'हरि' पाप और दुःख का नाश करने के कारण, 'कृष्ण' अपने ओर आकृष्ट करने की क्षमता के कारण तथा 'प्रधान' उन्हें क्षर और अक्षर पुरुष से उत्पन्न मानने के कारण कहा गया।[13] शुंग काल में भागवत धर्म के अंतर्गत अवतारवाद की विशेष प्रतिष्ठा देखी जाती है। अवतार सिद्धांत में दो प्रमुख और जनहितकारी तत्व निहित हैं। पहला यह कि अवतारों ने लोक में स्थापित केवल सांसारिक चरित्र वाले व्यक्तियों की धारणा को तोड़कर, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के लिए मार्ग प्रशस्त किया और लोगों को इनके अर्जन के लिए प्रेरित किया। दूसरा यह कि चारों पुरुषार्थों को समान महत्व दिया जाना चाहिए, इस विचार को भी बल मिला। जिन दैत्यों या असुरों का अंत अवतारों द्वारा किया गया, वे प्रायः अर्थ और काम की वासनाओं के वशीभूत होकर धर्म का उपयोग केवल स्वार्थ सिद्धि के साधन के रूप में करने लगे थे। उन्होंने मोक्ष की उपेक्षा करते हुए केवल भौतिक सुखों को प्रमुखता दी थी।[14] ये

---

[12] मनुस्मृति, 5.157

[13] महाभारत, शांति. 43.9.

विश्वकर्मण नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन विश्वसंम्भव। विष्णु जिष्णो हरे कृष्ण वैकुण्ठ पुरूषोत्तम।।

[14] नाहर, रतिभानुसिहं, भक्ति आन्दोलन का अध्ययन,पृ० 564

प्रवृत्तियाँ समाज के लिए विनाशकारी सिद्ध हो रही थीं। इसलिए जब किसी आततायी का अंत होता था, तो उसे लोकमंगल से जोड़ा जाता था। इसी कारण अवतारों को जनकल्याण के लिए उत्पन्न माना गया। इन अवतारों ने एक–दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप किए बिना समाज के प्रत्येक व्यक्ति को चतुर्वर्ग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समभाव से पालन करने की प्रेरणा दी। शुंगकाल में कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांतों ने समाज में गहरी जड़ें जमा ली थीं, जिससे इस युग की विशेष पहचान बनी। वर्णाश्रम व्यवस्था ने लोगों को उनके निर्धारित कर्तव्यों की ओर प्रवृत्त किया। साथ ही यह धारणा भी बलवती हुई कि व्यक्ति को उसके कर्मों के अनुसार अगला जन्म प्राप्त होता है।[15] पतंजलि[16] के 'महाभाष्य' में इस संसार से जुड़े कार्यों को 'ऐहलौकिक' और परलोक से संबंधित कार्यों को 'पारलौकिक' कहा गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उस काल में कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धांत व्यापक रूप से मान्य था। इस युग में पश्चिमी क्षेत्रों के निवासियों का आचार और चरित्र ही धार्मिक मूल्यों का प्रमुख आधार माना गया। महाभारत[17] से यह संकेत मिलता है कि आचार ही धर्म का प्रतीक था और साधु–संतों का आचरण समाज के लिए प्रेरणा का स्रोत था। धर्म की सार्थकता आचार से ही प्राप्त होती थी। मनु ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि वेदों और स्मृतियों में वर्णित आचार ही सर्वोत्तम धर्म हैं, और आत्मकल्याण की कामना रखने वाले द्विज को इसमें सजग रहना चाहिए।

निष्कर्ष

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शुंग काल ने आचार और चरित्र की महत्ता को केंद्र में रखकर जीवन को श्रेष्ठ दिशा दी। यद्यपि यह कालावधि अधिक लंबी नहीं थी, फिर भी इस समय में व्यक्ति और समाज को धार्मिक अनुशासन में बाँधकर एक मर्यादित एवं संगठित सामाजिक व्यवस्था की नींव रखी गई। यही शुंग युग का एक महत्वपूर्ण योगदान था। शुंगकाल एक ऐसा संक्रमणकाल था जिसमें समाज की पारंपरिक ढाँचा पुनः सुदृढ़ किया गया। इस काल में ब्राह्मणों को विशेष महत्व मिला और वर्ण–व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने के प्रयास हुए। सामाजिक रूप से संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित रही तथा आश्रम–व्यवस्था का पालन भी देखा गया। धार्मिक दृष्टि से यह काल पुनरुत्थानवादी था, जिसमें वैदिक परंपराओं और यज्ञों को पुनः प्रतिष्ठा दिलाने का प्रयास हुआ। साथ ही, बौद्ध धर्म पर भी प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ दिखाई दीं, जिससे वैदिक धर्म को बल मिला। अतः यह कहा जा सकता है कि शुंगकालीन समाज एक ओर परंपराओं की ओर लौटने वाला था, वहीं दूसरी ओर उसमें तत्कालीन धार्मिक विचारधाराओं के प्रति सजगता और प्रतिस्पर्धा की भावना भी विद्यमान थी।

[15] विधालंकार जयचन्द्र, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 1, पृ० 208

[16] महाभाष्य, 4.3.60

[17] महाभारत, आदि० 64.38